5 डॉ० सम्पूर्णानन्द

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री, कुशल राजनीतिज्ञ एवं मर्मज्ञ साहित्यकार डॉ0 सम्पूर्णानन्द का जन्म 1 जनवरी, 1890 ई0 को काशी में हुआ था। इन्होंने क्वीन्स कालेज, वाराणसी से बी0एस-सी0 की परीक्षा पास करने के बाद ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद से एल0 टी0 किया। इन्होंने एक अध्यापक के रूप में जीवन-क्षेत्र में प्रवेश किया और सबसे पहले प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावन में अध्यापक हुए। कुछ दिनों बाद इनकी नियुक्ति डूंगर कालेज, बीकानेर में प्रिंसिपल के पद पर हुई। सन् 1921 में महात्मा गाँधी के राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रेरित होकर काशी लौट आये और 'ज्ञान मंडल' में काम करने लगे। इन्हीं दिनों इन्होंने 'मर्यादा' (मासिक) और 'टुडे' (अंग्रेजी दैनिक) का सम्पादन किया।

इन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में प्रथम पंक्ति के सेनानी के रूप में कार्य किया और सन् 1936 में प्रथम बार कांग्रेस के टिकट पर विधानसभा के सदस्य चुने गये। सन् 1937 में कांग्रेस मंत्रिमंडल गठित होने पर ये उत्तर प्रदेश के शिक्षामंत्री नियुक्त हुए। सन् 1955 में ये उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री बने। सन् 1960 में इन्होंने मुख्यमंत्री पद से त्याग-पत्र दे दिया। सन् 1962 में ये राजस्थान के राज्यपाल नियुक्त हुए। सन् 1967 में राज्यपाल पद से मुक्त होने पर ये काशी लौट आये और मृत्युपर्यन्त काशी विद्यापीठ के कुलपति बने रहे। 10 जनवरी, 1969 ई0 को काशी में ही इस साहित्य-तपस्वी का निधन हो गया।

लेखक-एक संक्षिप्त परिचय

- **जन्म**—1 जनवरी, सन् 1890 ई0।
- **जन्म-स्थान**—काशी (उ0 प्र0)।
- **पिता**—विजयानन्द।
- **प्रमुख रचनाएँ**—चिद्विलास, पृथ्वी से सप्तर्षि मण्डल, देशबन्धु चितरंजनदास, महात्मा गाँधी, चीन की राज्यक्रान्ति, समाजवाद, आर्यों का आदि देश।
- **शिक्षा**—बी०एस-सी०, एल०टी०, अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी भाषा पर अधिकार।
- **लेखन विधा**—निबन्ध संग्रह, फुटकर निबन्ध, जीवनी, पत्रिका आदि।
- **भाषा**—शुद्ध साहित्यिक हिन्दी भाषा।
- **शैली**—विचारात्मक, गवेषणात्मक, व्याख्यात्मक, काव्यात्मक, आलंकारिक।
- **आजीविका**—प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावन में अध्यापक व डूँगर कॉलेज, बीकानेर में प्रिंसिपल।
  उ०प्र० के शिक्षा मंत्री, गृहमंत्री, मुख्यमंत्री एवं राज्यपाल रहे।
- **सम्पादन**—'मर्यादा', 'टुडे' (अंग्रेजी पत्रिका)।
- **मृत्यु**—10 जनवरी, सन् 1969 ई0।
- **साहित्य में स्थान**—सम्पूर्णानन्द जी हिन्दी के प्रकाण्ड पण्डित, कुशल राजनीतिज्ञ, मर्मज्ञ साहित्यकार, भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के ज्ञाता, गंभीर विचारक, जागरूक शिक्षाविद् के रूप में जाने जाते हैं।

डॉ0 सम्पूर्णानन्द एक उद्भट विद्वान् थे। हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी तीनों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। ये उर्दू और फारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे। विज्ञान, दर्शन और योग इनके प्रिय विषय थे। इन्होंने इतिहास, राजनीति और ज्योतिष

का भी अच्छा अध्ययन किया था। राजनीतिक कार्यों में उलझे रहने पर भी इनका अध्ययन-क्रम बराबर बना रहा। सन् 1940 में ये अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति निर्वाचित हुए थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इनकी **'समाजवाद'** कृति पर इनको मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया था। इनको सम्मेलन की सर्वोच्च उपाधि साहित्य वाचस्पति भी प्राप्त हुई थी। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के भी ये अध्यक्ष और संरक्षक थे। उत्तर प्रदेश के शिक्षामंत्री और मुख्यमंत्री के रूप में इन्होंने शिक्षा, कला और साहित्य की उन्नति के लिए अनेक उपयोगी कार्य किये। वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय इनकी ही देन है।

डॉ॰ सम्पूर्णानन्द जी ने विविध विषयों पर लगभग 25 ग्रंथों की तथा अनेक फुटकर लेखों की रचना की थी।

डॉ॰ सम्पूर्णानन्द की प्रसिद्ध कृतियाँ निम्नलिखित हैं :

निबन्ध-संग्रह—'पृथ्वी से सप्तर्षि मण्डल', 'चिद्विलास', 'ज्योतिर्विनोद', 'अंतरिक्ष यात्रा'।

फुटकर निबन्ध—'जीवन और दर्शन'।

जीवनी—'देशबन्धु चितरंजनदास', 'महात्मा गांधी'।

राजनीति और इतिहास—'चीन की राज्यक्रान्ति', 'मिस्र की राज्यक्रान्ति', 'समाजवाद', 'आर्यों का आदि देश', 'सम्राट हर्षवर्द्धन', 'भारत के देशी राज्य' आदि।

धर्म—'गणेश', 'नासदीय सूक्त की टीका', 'ब्राह्मण सावधान'।

अन्य रचनाएँ—'अंतर्राष्ट्रीय विधान', 'पुरुष सूक्त', 'व्रात्यकाण्ड', 'भारतीय सृष्टि क्रम विचार', 'स्फुट विचार', 'हिन्दू देव परिवार का विकास', 'वेदार्थ प्रवेशिका', 'अधूरी क्रान्ति', 'भाषा की शक्ति तथा अन्य निबन्ध'।

इनकी शैली शुद्ध, परिष्कृत एवं साहित्यिक है। इन्होंने विषयों का विवेचन तर्कपूर्ण शैली में किया है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इनकी शैली के तीन रूप (1) विचारात्मक, (2) व्याख्यात्मक तथा (3) ओजपूर्ण लक्षित होते हैं।

विचारात्मक शैली–इस शैली के अन्तर्गत इनके स्वतंत्र एवं मौलिक विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। भाषा विषयानुकूल एवं प्रवाहपूर्ण है। वाक्यों का विधान लघु है, परन्तु प्रवाह तथा ओज सर्वत्र विद्यमान है।

व्याख्यात्मक शैली–दार्शनिक विषयों के प्रतिपादन के लिए इस शैली का प्रयोग किया गया है। भाषा सरल एवं संयत है। उदाहरणों के प्रयोग द्वारा विषय को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

ओजपूर्ण शैली–इस शैली में इन्होंने मौलिक निबंध लिखे हैं। ओज की प्रधानता है। वाक्यों का गठन सुन्दर है। भाषा व्यावहारिक है।

इनकी भाषा सबल, सजीव, साहित्यिक, प्रौढ़ एवं प्राञ्जल है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग किया गया है। गंभीर विषयों के विवेचन में भाषा विषयानुकूल गंभीर हो गयी है। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग प्रायः नहीं किया गया है। शब्दों का चुनाव भावों और विचारों के अनुरूप किया गया है। भाषा में सर्वत्र प्रवाह, सौष्ठव और प्राञ्जलता विद्यमान है।

प्रस्तुत **'शिक्षा का उद्देश्य'** शीर्षक निबंध सम्पूर्णानन्द जी के **'भाषा की शक्ति'** नामक संग्रह से संकलित है। इस पाठ में लेखक ने 'शिक्षा के उद्देश्य' पर मौलिक ढंग से अपना विचार व्यक्त किया और प्राचीन आदर्शों को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है। लेखक ने इस पाठ में अध्यापकों का कर्त्तव्य बताते हुए स्पष्ट किया है कि अध्यापक का सर्वप्रथम कर्त्तव्य छात्रों में चरित्र का विकास करना और उनमें लोक-कल्याण की भावना जाग्रत करना है।

●●

शिक्षा का उद्देश्य

अध्यापक और समाज के सामने सबसे बड़ा प्रश्न है शिक्षा किसलिए दी जाय? शिक्षा का जैसा उद्देश्य होगा, तदनुसार ही पाठ्य विषयों का चुनाव होगा। पर शिक्षा का उद्देश्य स्वतंत्र नहीं है। वह इस बात पर निर्भर है कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य—मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ—क्या है। मनुष्य को उस पुरुषार्थ की सिद्धि के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

पुरुषार्थ दार्शनिक विषय है, पर दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह थोड़े से विद्यार्थियों का पाठ्य विषय मात्र नहीं है। प्रत्येक समाज को एक दार्शनिक मत स्वीकार करना होगा। उसी के आधार पर उसकी राजनीतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक व्यवस्था का व्यूह खड़ा होगा। जो समाज अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को केवल प्रतीयमान उपयोगिता के आधार पर चलाना चाहेगा उसको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। एक विभाग के आदर्श दूसरे विभाग के आदर्श से टकरायेंगे। जो बात एक क्षेत्र में ठीक जँचेगी वही दूसरे क्षेत्र में अनुचित कहलायेगी और मनुष्य के लिए अपना कर्त्तव्य स्थिर करना कठिन हो जायेगा। इसका तमाशा आज दीख पड़ रहा है। चोरी करना बुरा है पर पराये देश का शोषण करना बुरा नहीं। झूठ बोलना बुरा है पर राजनीतिक क्षेत्र में सच बोलने पर अड़े रहना मूर्खता है। घरवालों के साथ, देशवासियों के साथ और परदेशियों के साथ बर्ताव करने के लिए अलग-अलग आचारावलियाँ बन गयी हैं। इससे विवेकशील मनुष्य को कष्ट होता है। पग-पग पर धर्म-संकट में पड़ जाता है कि क्या करूँ। कल्याण इसी में है कि खूब सोच-विचारकर एक व्यापक दार्शनिक मत अंगीकार किया जाय और फिर सारे व्यवहार की नींव बनाया जाय। यह असंभव प्रयत्न नहीं है। प्राचीन भारत ने वर्णाश्रम धर्म इसी प्रकार स्थापित किया था। वर्तमान काल में रूस ने मार्क्सवाद को अपने राष्ट्रीय जीवन की सभी चेष्टाओं का केन्द्र बनाया है। ऐसा करने से सभी उद्योग एकसूत्र में बँध जाते हैं और आदर्शों और कर्त्तव्यों के टकराने की संभावना बहुत ही कम हो जाती है।

इस निबंध में दार्शनिक शास्त्रार्थ के लिए स्थान नहीं है। मैं यहाँ इतना कह सकता हूँ कि मेरी समझ में भारतीय संस्कृति ने पुराने काल में अपने लिए आधार ढूँढ़ निकाला था, वह अब भी वैसा ही श्रेयस्कर है क्योंकि उसका सश्रय शाश्वत है।

आत्मा अजर और अमर है। उसमें अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का भण्डार है। अकेले ज्ञान कहना भी पर्याप्त हो सकता है क्योंकि जहाँ ज्ञान होता है वहाँ शक्ति होती है, और जहाँ ज्ञान और शक्ति होते हैं वहाँ आनन्द भी होता है। परन्तु अविद्यावशात् वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है। इसी से अपने को अल्पज्ञ पाता है। अल्पज्ञता के साथ-साथ शक्तिमत्ता आती है और इसका परिणाम दुःख होता है। भीतर से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कुछ खोया हुआ है; परन्तु यह नहीं समझ में आता कि क्या खो गया है। उसे खोयी हुई वस्तु की, अपने स्वरूप की, निरन्तर खोज रहती है। आत्मा अनजान में भटका करता है, कभी इस विषय की ओर दौड़ता है, कभी उसकी ओर; परन्तु किसी की प्राप्ति से तृप्ति नहीं होती, क्योंकि अपना स्वरूप इन विषयों में नहीं है। जब तक आत्मसाक्षात्कार न होगा, तब तक अपूर्णता की अनुभूति बनी रहेगी और आनन्द की खोज जारी रहेगी। इस खोज में सफलता, आनन्द की प्राप्ति, अपने परम ज्ञानमय स्वरूप में स्थिति यही मनुष्य का पुरुषार्थ, उसके जीवन का चरम लक्ष्य है और उसको इस पुरुषार्थ-साधन के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। वह राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था सबसे अच्छी है जिससे पुरुषार्थ-सिद्धि में सहायता मिल सके; कम-से-कम बाधाएँ तो न्यूनतम हों।

आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन योगाभ्यास है। योगाभ्यास सिखाने का प्रबंध राज्य नहीं कर सकता, न पाठशाला का अध्यापक ही इसका दायित्व ले सकता है। जो इस विद्या का खोजी होगा वह अपने लिए गुरु ढूँढ़ लेगा। परन्तु इतना किया

जा सकता है—और यही समाज और अध्यापक का कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के अधिकारी बनने में सहायता दी जाय, अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जाय।

यहाँ पाठ्य-विषयों की चर्चा करना अनावश्यक है; वह ब्यौरे की बात है। परन्तु चरित्र का विकास ब्यौरे की बात नहीं है। उसका महत्त्व सर्वोपरि है। चरित्र शब्द का भी व्यापक अर्थ लेना होगा। पुरुषार्थ को सामने रखकर ही चरित्र सँवारा जा सकता है। प्रत्येक छात्र की आत्मा अपने को ढूँढ़ रही है, पर उसे इसका पता नहीं। अज्ञानवशात् वह उस आनन्द को, जो उसका अपना स्वरूप है, बाहरी चीजों में ढूँढ़ती है। जब कोई अभिलषित वस्तु मिल जाती है तो थोड़ी देर के लिए सुख का अनुभव होता है; परन्तु थोड़ी ही देर बाद चित्त किसी और वस्तु की ओर जा दौड़ता है; क्योंकि जिसकी खोज है वह कहीं मिलता नहीं। सब इसी खोज में हैं। ऐसी दशा में आपस में संघर्ष होना स्वाभाविक है। यदि दस आदमी अँधेरी कोठरी में टटोलते फिरेंगे तो बिना टकराये रह नहीं सकते। एक ही वस्तु की अभिलाषा जब दो या अधिक मनुष्य करेंगे तो उनमें अवश्य मुठभेड़ होगी। चीज का उपयोग तो कोई एक ही कर सकेगा। इस प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध बढ़ते रहते हैं। ज्ञान और शक्ति की कमी से सफलता कम ही मिलती है। इससे अपने ऊपर ग्लानि होती है, दृश्यमान के नीचे एक मूक वेदना टीसती रहती है।

यह अध्यापक का काम है कि वह अपने छात्र में चित्त एकाग्र करने का अभ्यास डाले। एकाग्रता ही आत्मसाक्षात्कार की कुंजी है। एकाग्रता का उपाय यह है कि छात्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का भाव उत्पन्न किया जाय और उसे निष्काम कर्म में प्रवृत्त किया जाय। दूसरे के सुख को देखकर सुखी होना, मैत्री और दुःख देखकर दुःखी होना करुणा है। किसी को अच्छा काम करते देखकर प्रसन्न होना और उसका प्रोत्साहन करना मुदिता और दुष्कर्म का विरोध करते हुए अनिष्टकारी से शत्रुता न करना उपेक्षा है। ज्यों-ज्यों यह भाव जागते हैं, त्यों-त्यों ईर्ष्या-द्वेष की कमी होती है। निष्काम कर्म भी राग-द्वेष को नष्ट करता है। ये बातें हँसी-खेल नहीं हैं; परन्तु चित्त को उधर फेरना तो होगा ही, सफलता चाहे बहुत धीरे ही प्राप्त हो। इस प्रकार का प्रयास भी मनुष्य को ऊपर उठाता है। निष्कामिता की कुंजी यह है कि अपना खयाल कम और दूसरों का अधिक किया जाय। आरम्भ से ही परार्थ साधन, लोक-संग्रह और जीव-सेवा के भाव उत्पन्न किये जायँ। जब कभी मनुष्य से थोड़ी देर के लिए सच्ची सेवा बन पड़ती है तो उसे बड़ा आनन्द मिलता है : भूखे को अन्न देते समय, जलते या डूबते को बचाते समय, रोगी की शुश्रूषा करते समय कुछ देर के लिए उसके साथ तन्मयता हो जाती है। 'मैं' 'पर' का भाव तिरोहित हो जाता है। उस समय अपने 'स्व' की एक झलक मिल जाती है। 'मैं' 'तू' के कृत्रिम भेदों के परे जो अपना सर्वात्मक, शुद्ध स्वरूप है, उसका साक्षात्कार हो जाता है। जो जितने ही बड़े क्षेत्र के साथ तन्मयता प्राप्त कर सकेगा, उसको आनन्द और स्वरूप-दर्शन की उतनी ही उपलब्धि होगी। हमारी सुविधा और चरित्र-निर्माण के लिए यह तो नहीं हो सकता कि लोग आये दिन डूबा और जला करें या भूख-प्यास से तड़पा करें, परन्तु सेवा के अवसरों की कमी भी नहीं होती। सेवा करने में भाव यह न होना चाहिए कि मैं इसका उपकार कर रहा हूँ, वरन् यह कि इसकी बड़ी कृपा है जो मेरी तुच्छ सेवा स्वीकार कर रहा है। यह भी याद रहे कि सेवा केवल मनुष्य की नहीं, जीव मात्र की करनी है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग के भी स्वत्व होते हैं, उनका भी आदर करना है।

चित्त को क्षुद्र वासनाओं से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है। काव्य, चित्र, संगीत आदि का जिस समय रस मिला करता है उस समय भी शरीर और इन्द्रियों के बन्धन ढीले पड़ गये होते हैं और चित्त आध्यात्मिक जगत् में खिंच जाता है। यही बात प्रकृति के निरीक्षण से भी होती है। प्रकृति का उपयोग निकृष्ट कोटि के काव्य में कामोद्दीपन के लिए किया जाता है, परन्तु वह शान्त रस का भी उद्दीपन करता है। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि छात्र में सौन्दर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करे। यह स्मरण रखना चाहिए कि सौन्दर्य-प्रेम भी निष्काम होता है। जहाँ तक यह भाव रहता है कि मैं इसका अमुक प्रकार से प्रयोग करूँ, वहाँ तक उसके सौन्दर्य की अनुभूति नहीं होती। सौन्दर्य के प्रत्यक्ष का स्वरूप तो यह है कि द्रष्टा अपने को भूलकर तन्मय हो जाय।

कहने का तात्पर्य यह है कि छात्र के चरित्र को इस प्रकार विकास देना है कि वह 'मैं' 'तू' के ऊपर उठ सके। जहाँ तक उपयोग का भाव रहेगा, वहाँ तक साम्य की आकांक्षा होगी। वह वस्तु मेरी होकर रहे—इसी में संघर्ष और कलह होता है। परन्तु सेवा और सुकृत में संघर्ष नहीं हो सकता। हम, तुम, सौ आदमी सच बोलें—धर्माचरण करें, उपासना करें, लोगों के दुःख निवारण करें, इसमें कोई झगड़ा नहीं है। परन्तु इस वस्तु को मैं लूँ या तुम, यह झगड़े का विषय हो सकता है, क्योंकि एक

वस्तु का उपयोग एक समय में प्रायः एक ही मनुष्य कर सकता है। गाना हो रहा हो, आकाश में तारे खिले हों, फूलों के सुवास से लदी समीर बह रही हो, इनके सुख को युगपत् हजारों व्यक्ति ले सकते हैं। काव्यपाठ से मुझको आनन्द होता है वह आपके आनन्द को कम नहीं करता। इसलिए प्राचीन आचार्यों ने धर्म की दीक्षा दी थी। आज भी अध्यापक को चाहे उसका विषय गणित हो या भूगोल, इतिहास हो या तर्कशास्त्र, अपने शिष्यों में धर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए। धर्म का तात्पर्य पूजा-पाठ नहीं है। धर्म उन सब कामों की समष्टि का नाम है जो कल्याणकारी है। अपना कल्याण समाज के कल्याण से पृथक् नहीं हो सकता। मनुष्य के बहुत से ऐसे गुण हैं जिनका विकास समाज में ही रहकर होता है और बहुत से ऐसे भोग और सुख हैं जो समाज में प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए समाज को ध्यान में रखकर ही धर्म का आदेश होता है, परन्तु हमारे समाज में केवल मनुष्य नहीं हैं। हम जिस समाज के अंग हैं उसमें देव भी हैं, पशु भी हैं, मनुष्य भी। इन सबका हम पर प्रभाव पड़ता है, सबका हमारे ऊपर ऋण है, इसलिए सबके प्रति हमारा कर्त्तव्य है। हमको इस प्रकार रहना है कि हमारे पूर्वज संस्कृति का जो प्रकाश हमारे लिए छोड़ गये हैं उनका लोप न होने पाये—हमारे पीछे आनेवालों तक वह पहुँच जाय। इसलिए हमारे कर्त्तव्यों की डोर पितरों से लेकर वंशजों तक पहुँचती है। इसी विस्तृत कर्त्तव्य-राशि को धर्म कहते हैं। आज सब अपने-अपने अधिकारों के लिए लड़ते हैं। इस झगड़े का अन्त नहीं हो सकता। यदि धर्मबुद्धि जगायी जाय और सब अपने-अपने कर्त्तव्यों में तत्पर हो जायँ तो विवाद की जड़ ही कट जाय और सबको अपने उचित अधिकार स्वतः प्राप्त हो जायँ, और लोग हमारे साथ कैसा व्यवहार करते हैं—इसकी ओर कम और हम खुद औरों के साथ कैसा आचरण करें—इसकी ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

परन्तु इस बुद्धि की जड़ तभी दृढ़ हो सकती है, जब चित्त में सत्य के लिए निर्बाध प्रेम हो। सभी शास्त्र इस प्रेम को उत्पन्न कर सकते हैं, पर शर्त यह है कि ज्ञान औषध की घूँट की भाँति ऊपर से न पिला दिया गया हो। सत्य को धारण करने के लिए अनुसंधान और आलोचना की बुद्धि का उद्‌बोधन होना चाहिए। वह बुद्धि निर्भयता के वातावरण में ही पनप सकती है। अध्यापक को यथाशक्य यह वातावरण उत्पन्न करना है।

इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि अध्यापक को अपने छात्र में कैसा चरित्र विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए। अच्छे उपाध्याय के निकट पढ़ा हुआ स्नातक सत्य का प्रेमी और खोजी होगा। उसके चित्त में जिज्ञासा-ज्ञान का आदर होगा और हृदय में नम्रता, अनसूया, प्राणिमात्र के लिए सौहार्द। वह तपस्वी, संयमी और परिश्रमी होगा। सौन्दर्य का उपासक होगा और हर प्रकार के अन्याय, अत्याचार और कदाचार का निर्मम विरोधी होगा। धर्म और त्याग उसके जीवन की प्रबल प्रेरक शक्तियाँ होंगी। उसका सदैव यह प्रयत्न होगा कि यह पृथिवी अधिक सभ्य और संस्कृत हो, समाज अधिक उन्नत हो। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सब संन्यासी होंगे। गृहस्थ पर धर्म का भार संन्यासी से कम नहीं होता। व्यापार, शासन, कुटुम्ब के क्षेत्रों में भी धर्म का स्थान है। यह भी दावा नहीं किया जा सकता कि इन लोगों में राग-द्वेष का नितान्त अभाव हो जायेगा, कोई दुराचारी होगा ही नहीं। अध्यापक और समाज प्रयत्न-मात्र कर सकते हैं। इस प्रयत्न का इतना परिणाम तो निःसंदेह होगा कि बहुत से लोग ठीक राह पर लग जायेंगे और अपने पुरुषार्थ को पहचानने लगेंगे। पथभ्रष्ट भी होंगे, गिरेंगे भी, पर अपनी भूलों पर आप ही पश्चात्ताप करेंगे और इन गलतियों की सीढ़ी बनाकर आत्मोन्नति करेंगे। भूल करना बुरा नहीं है, भूल को भूल न समझना ही बड़ा दुर्भाग्य है।

यह मानी हुई बात है कि अकेला अध्यापक ऐसा मनोभाव नहीं उत्पन्न कर सकता। उसको सफलता तभी मिल सकती है जब समाज उसकी सहायता करे। जिस प्रदेश में कलह मचा रहता हो, जिस समाज में गरीब-अमीर, ऊँच-नीच की विषमता पुकार-पुकार कर द्वंद्व और प्रतियोगिता को प्रोत्साहन दे रही हो, जिस राष्ट्र की नीति परस्वत्वापहरण और शोषण पर खड़ी हो उसके अध्यापक भला क्या करें। जिन घरों में दाल-रोटी का ठिकाना न हो, पिता मद्यप और माता स्वैरिणी हो, माँ-बाप में मार-पीट, गाली-गलौज मची रहती हो, उसके बच्चों को पालने ही में मानस-विष दे दिया जाता है। तंग गलियों और गंदे घरों में रहनेवाले, जो छोटे वय से अश्लीलता और अभद्रता में ही पले हैं, सौन्दर्य को जल्दी नहीं समझ पाते। ऐसी दशा में अध्यापक को दोष देना अन्याय है। फिर भी अध्यापक परिस्थितियों को दोष देकर बैठा नहीं रह सकता। उसको तो अपना कर्त्तव्य-पालन करना ही है, सफलता कम हो या अधिक।

साधारणतः शिक्षक योगी नहीं होता, पर उसका भाव वही होना चाहिए जो किसी योगी का अपने शिष्य के प्रति होता है—अनेक शरीरों में भ्रमते हुए आज इसने नर देह पायी है और मेरे पास छात्र रूप में आया है। यदि मैं इसको ठीक मार्ग पर लगा सका, इसके चरित्र के यथोचित विकास प्राप्त करने में बल जुटा सका, तो समाज का भला होगा और इसका न केवल ऐहिक वरन् आमुष्मिक कल्याण होगा। यदि इसे आगे शरीर धारण करना भी पड़ा तो वह जन्म इस जन्म से ऊँचे होंगे। इस समय वह बात-बात में परिस्थितियों से अभिभूत हो जाता है। इसकी स्वतन्त्र आत्मा प्रतिक्षण अपने बन्धनों को तोड़ना चाहती है, पर ऐसा कर नहीं पाती। यदि इसकी बुद्धि को शुद्ध किया जाय और क्षुद्र वासनाओं से ऊपर उठाया जाय, तो आत्मा परिस्थितियों पर विजय पाने में समर्थ होने लगेगी और इसको अपने ज्ञान-शक्ति आनन्दमय स्वरूप का आभास मिलने लगेगा। इस प्रकार वह अपने परम पुरुषार्थ को सिद्ध करने का अधिकारी बन सकेगा। इस भावना से जो अध्यापक प्रेरित होगा वह अपने शिष्य के कामों को उसी दृष्टि से देखेगा जिससे बड़ा भाई अपने घुटने के बल चलनेवाले छोटे भाई की चेष्टाओं को देखता है। उसकी भूलों को तो ठीक करना ही होगा परन्तु सहानुभूति और प्रेम के साथ।

यह आदर्श बहुत ऊँचा है, पर अध्यापक का पद भी कम ऊँचा नहीं है। जो वेतन का लोलुप है और वेतन की मात्रा के अनुसार ही काम करना चाहता है उसके लिए इसमें जगह नहीं है। अध्यापक का जो कर्त्तव्य है उसका मूल्य रुपयों में नहीं आँका जा सकता। किसी समय जो शिक्षक होता था, वही धर्म-गुरु और पुरोहित भी होता था और जो बड़ा विद्वान् और तपस्वी होता था, वही इस भार को उठाया करता था। शिष्य को ब्रह्म-विद्या का पात्र और यजमान को दिव्यलोकों का अधिकारी बनाना सबका काम नहीं है। आज न वह धर्म-गुरु रहे न पुरोहित। पर क्या हम शिक्षक भी इसीलिए कर्त्तव्यच्युत हो जायँ? हमको अपने सामने वही आदर्श रखना चाहिए और अपने को उस दायित्व का बोझ उठाने योग्य बनाने का निरन्तर अथक प्रयत्न करना चाहिए।

—डॉ० सम्पूर्णानन्द

अभ्यास प्रश्न

➥ गद्यांश पर आधारित प्रश्न

1. निम्नलिखित गद्यांशों को पढ़कर उनके नीचे दिये गये प्रश्नों के उत्तर लिखिए—

(क) पुरुषार्थ दार्शनिक विषय है, पर दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह थोड़े से विद्यार्थियों का पाठ्य विषय मात्र नहीं है। प्रत्येक समाज को एक दार्शनिक मत स्वीकार करना होगा। उसी के आधार पर उसकी राजनीतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक व्यवस्था का व्यूह खड़ा होगा। जो समाज अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को केवल प्रतीयमान उपयोगिता के आधार पर चलाना चाहेगा उसको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। एक विभाग के आदर्श दूसरे विभाग के आदर्श से टकरायेंगे।

प्रश्न– (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।

अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।

(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(iii) पुरुषार्थ किस प्रकार का विषय है?

(iv) पुरुषार्थ और दर्शन का सम्बन्ध किससे है?

(v) प्रत्येक समाज को दार्शनिक मत क्यों स्वीकार करना चाहिए?

(ख) आत्मा अजर और अमर है। उसमें अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का भण्डार है। अकेले ज्ञान कहना भी पर्याप्त हो सकता है क्योंकि जहाँ ज्ञान होता है वहाँ शक्ति होती है, और जहाँ ज्ञान और शक्ति होते हैं वहाँ आनन्द भी होता है। परन्तु अविद्यावशात् वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है। इसी से अपने को अल्पज्ञ पाता है। अल्पज्ञता के साथ-साथ शक्तिमत्ता आती है और इसका परिणाम दुःख होता है।

प्रश्न– (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।

अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।

(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(iii) आत्मा को क्या माना गया है?

(iv) प्रस्तुत गद्यांश में किसका वर्णन किया गया है?

(v) इस गद्यांश में आनन्द की कुंजी किसे बताया गया है?

(ग) आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन योगाभ्यास है। योगाभ्यास सिखाने का प्रबंध राज्य नहीं कर सकता, न पाठशाला का अध्यापक ही इसका दायित्व ले सकता है। जो इस विद्या का खोजी होगा वह अपने लिए गुरु ढूँढ़ लेगा। परन्तु इतना किया जा सकता है– और यही समाज और अध्यापक का कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के अधिकारी बनने में सहायता दी जाय, अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जाय।

प्रश्न– (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।

अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।

(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(iii) आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन क्या है?

(iv) समाज और अध्यापक का क्या कर्त्तव्य है?

(v) उपर्युक्त गद्यांश का आशय स्पष्ट कीजिए।

(घ) यह अध्यापक का काम है कि वह अपने छात्र में चित्त एकाग्र करने का अभ्यास डाले। एकाग्रता ही आत्मसाक्षात्कार की कुंजी है। एकाग्रता का उपाय यह है कि छात्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का भाव उत्पन्न किया जाय और उसे निष्काम कर्म में प्रवृत्त किया जाय। दूसरे के सुख को देखकर सुखी होना, मैत्री और दुःख देखकर दुःखी होना करुणा है। किसी को अच्छा काम करते देखकर प्रसन्न होना और उसका प्रोत्साहन करना मुदिता और दुष्कर्म का विरोध करते हुए अनिष्टकारी से शत्रुता न करना उपेक्षा है। ज्यों-ज्यों यह भाव जागते हैं, त्यों-त्यों ईर्ष्या-द्वेष की कमी होती है निष्काम कर्म भी राग-द्वेष को नष्ट करता है।

प्रश्न– (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।

अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।

(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(iii) गद्यांश के अनुसार अध्यापक का प्रमुख कर्त्तव्य क्या है?

(iv) आत्मसाक्षात्कार की कुंजी क्या है?

(v) गद्यांश के अनुसार करुणा क्या है?

(ङ) चित्त को क्षुद्र वासनाओं से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है। काव्य, चित्र, संगीत आदि का जिस समय रस मिला करता है उस समय भी शरीर और इन्द्रियों के बन्धन ढीले पड़ गये होते हैं और चित्त आध्यात्मिक जगत् में खिंच जाता है। यही बात प्रकृति के निरीक्षण से भी होती है। प्रकृति का उपयोग निकृष्ट कोटि के काव्य में कामोद्दीपन के लिए किया जाता है, परन्तु वह शान्त रस का भी उद्दीपन करता है। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि छात्र में सौन्दर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करे। यह स्मरण रखना चाहिए कि सौन्दर्य-प्रेम भी निष्काम होता है। जहाँ तक यह भाव रहता है कि मैं इसका अमुक प्रकार से प्रयोग करूँ, वहाँ तक उसके सौन्दर्य की अनुभूति नहीं होती। सौन्दर्य के प्रत्यक्ष का स्वरूप तो यह है कि द्रष्टा अपने को भूलकर तन्मय हो जाय।

प्रश्न– (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।
अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।
(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।
(iii) प्रस्तुत अवतरण के अनुसार अध्यापक का क्या कर्त्तव्य है?
(iv) गद्यांश के अनुसार कला को किसका साधन बताया गया है?
(v) प्रस्तुत गद्यांश में किसके महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है?

➥ दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'शिक्षा का उद्देश्य' पाठ का सारांश लिखिए।
2. डॉ० सम्पूर्णानन्द की भाषा-शैली पर प्रकाश डालिए।
3. डॉ० सम्पूर्णानन्द की जीवनी बताते हुए उनकी कृतियों का उल्लेख कीजिए।
4. डॉ० सम्पूर्णानन्द का साहित्यिक परिचय दीजिए।
5. निम्नलिखित सूक्तिपरक वाक्यों की ससन्दर्भ व्याख्या कीजिए—
   (क) आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन योगाभ्यास है।
   (ख) एकाग्रता ही आत्मसाक्षात्कार की कुंजी है।
   (ग) जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ शक्ति होती है।
   (घ) आत्मा अजर-अमर है।
   (ङ) पुरुषार्थ दार्शनिक विषय है।
   (च) दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है।
   (छ) भूल करना बुरा नहीं है, भूल को भूल न समझना ही बड़ा दुर्भाग्य है।
   (ज) निष्कामिता की कुंजी यह है कि अपना ख़्याल कम और दूसरों का अधिक किया जाय।
   (झ) चित्त को क्षुद्र वासनाओं से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है।

➥ लघु उत्तरीय प्रश्न

1. "मनुष्य को पुरुषार्थ की सिद्धि के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है", इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?
2. लेखक के विचार से मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ क्या है?
3. शिक्षा किस प्रकार चरित्र-निर्माण में सहायक होती है? अध्यापकों को अपने छात्रों में किन-किन गुणों का विकास करना चाहिए?
4. 'धर्म' की व्यापकता को लेखक ने किस प्रकार स्पष्ट किया है?
5. पठित निबन्ध के आधार पर शिक्षा के उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।
6. हमारी सामाजिक दशा का शिक्षक और विद्यार्थी पर क्या प्रभाव पड़ता है?
7. शिक्षक को किन आदर्शों की सिद्धि के लिए निरन्तर जागरूक रहना चाहिए?
8. 'शिक्षा का उद्देश्य' पाठ के आधार पर स्पष्ट कीजिए कि आदर्श शिक्षक में क्या गुण होने चाहिए?
9. आधुनिक युग में शिक्षा का क्या उद्देश्य है, इस सन्दर्भ में डॉ० सम्पूर्णानन्दजी का दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए।
10. 'शिक्षा का उद्देश्य' नामक पाठ की मुख्य विशेषताएँ बताइए।
11. 'शिक्षा का उद्देश्य' निबन्ध का सार अपने शब्दों में लिखिए।
12. 'शिक्षा का उद्देश्य' नामक निबन्ध में सम्पूर्णानन्द ने किन बिन्दुओं पर अधिक जोर दिया है? संक्षेप में लिखिए।

●●●